चन्द्रधर शर्मा 'गुलेरी' के इस लेख को स्वाधीनता आन्दोलन के राजनैतिक-सामाजिक संदर्भों में समझने पर यह स्पष्ट होता है कि स्वाधीनता आन्दोलन के दौरान सिर्फ राजनैतिक मुक्ति के प्रश्नों पर ही विचार नहीं हो रहा था बल्कि राज्य-समाज द्वारा पोषित अन्य व्यवस्थाओं पर भी सवाल उठ रहे थे।

प्रेमचन्द 'बच्चों को स्वाधीन बनाओ' लेख में परिवार में बच्चों को स्वाधीन बनाने की मांग कर रहे थे तो 'गुलेरी' शिक्षा व्यवस्था में चली आ रही जड़ मान्यताओं में आमूल परिवर्तन के संदर्भ में सवाल उठा रहे थे। वर्तमान शिक्षा व्यवस्था अभी भी उन्हीं समस्याओं से जूझ रही हैं जिन्हें 'गुलेरी' ने 1914 में लिखे इस लेख में उठाया है।

शिक्षा के आदर्शों में परिवर्तन

❑ चन्द्रधर शर्मा 'गुलेरी'

पहले यह माना जाता था कि विद्या कोई बाहरी चीज है जिसे गुरु पढ़ने वाले के हृदय में घुसेड़ता है। पढ़ने वाले का हृदय कोरा कागज है और उस पर गुरु नए अक्षर और नए संस्कार अंकित करता है। उसके खाली मस्तिष्क में या पोले मन में कोई बहुमूल्य पदार्थ बाहर से भरा जाता है जैसा कि रहीम ने एक सुन्दर उपमा से कहा है :

रहिमन विद्या पढ़न में, बालक झोंका खाय।
तन घट अरु विद्या रतन, भरत हिलाय हिलाय॥

अथवा जैसा वैदिक काल की एक पुरानी गाथा कहती है-

यथा खनन् खनित्रेण नरो वार्यधिगच्छति।
एवं गुरुगतां विद्यां शुश्रूपुरधिगच्छति॥

(जैसे कुदाली में खोदते-खोदते आदमी को पानी मिल जाता है वैसे सेवा करने वाले को गुरु में से विद्या मिलती है।)

पर यह आदर्श अब बदल गया है। विद्या कोई बाहरी चीज नहीं है जो गुरु को बाहर से ठूंस कर भरनी पड़ती है। गुरु का काम शिष्य के हृदय की सोती हुई शक्तियों को जगाना है, उसके सहज और परम्परागत संस्कारों को चिताना है। पीढ़ियों से पशुत्व और मनुष्यत्व के जो भाव उसके मस्तिष्क में हैं उन्हें उत्तेजित करना, उनमें जो हानिकारक हों उन्हें मिटाना और जो अच्छे हों उन्हें प्रबल कर देना - ये गुरु का काम है। गुरु धोबी के गधे को जौनपुर का काजी नहीं बना सकता। कथा के अनुसार वह फिर रस्सी देखकर दौड़ा चला जावेगा। गुरु बाहर से कुछ नहीं डालता, भीतर के अचेतन बलों को चमका देता है। गुरु का काम जिला करने वाले का, या रत्नों को घिसने वाले का है, नई वस्तु गढ़ने वाले का नहीं। भवभूति इस सत्य का कुछ-कुछ कह गया है :

वितरति गुरु प्राज्ञे विद्यां तथैव, तथा जडे-
न च खलु तयोर्ज्ञाने शक्तिं करोत्यपहंति वा।
भवति च त्तयोर्भूयान् 'भेद:' फलं प्रति तद्यथा,
प्रभवति शुचिर्विम्बोद्ग्राहे मृणिर्न मृदां चय:॥

जिसकी आंखों पर पट्टी बंधी हो, उसे जैसे सड़क की लीक पर छोड़ दिया और यह कह दिया कि इधर दाहिने हाथ जाना और उधर बायें हाथ, और उपनिषदों की भाषा में, वह 'पण्डित मेधावी गांधार देश को पहुंच जाएगा।' वैसे ही गुरु मार्ग दिखा सकता है। अज्ञान-तिमिरांध की आंखें वह ज्ञानांजन-शलाका से खोल सकता है, जन्मांध को वह आंख नहीं दे सकता। विद्यार्थी अनगढ़ लकड़ी के कुंदे नहीं होते, वे पशु होते हैं, मनुष्य होते हैं। प्रकृति उन्हें शिक्षा दे रही है। गुरु का काम केवल प्रकृति की सहायता करना है। बल्कि बालक निचले नहीं बैठ सकते। जो गुरु उन्हें चित्र की तरह नि:स्पंदन बिठाकर स्थिरोपवेश बनाना चाहता है वह बड़ी भूल करता है। वह प्रकृति की चलती चक्की में कंकर डालता है, प्रवृत्ति के स्वाभाविक रस के स्रोत को सुखाता है। चतुर गुरु वह है जो उनकी इस प्रवृत्ति को उचित मार्ग में जोतकर वनस्पति विज्ञान, पदार्थ-परिचय और सहयोगिता की शिक्षा देता है। पहले यह माना जाता था कि सीखने वाले सीखना नहीं चाहते। रीते मुंह पाठशाला में जाते हैं और छूटते ही तीर की तरह भागते हैं। खेलना वे चाहते हैं। पढ़ना नहीं। खेलने

से खराब होने की धमकी और पढ़ने से नवाब होने की प्रलोभना कहावतों में उनकी आंखों के सामने नचाई जाती थी। अब यह सब बदल गया है। खेलना बड़ी भारी शिक्षा है। जितने मनुष्यत्व के अंग खेल में और खुले में सीखे जाते हैं उतने गुरु जी की तंग कोठरी में पट्टी और खड़िया से नहीं। एक बात में पहले पण्डित बनाने का यत्न किया जाता था, अब मनुष्य बनाने का यत्न आदर्श माना जाता है। यह दूसरी बात है कि आजकल की शिक्षा में कुछ दोष बिना बुलाए आ घुसते हैं जैसे पहले की शिक्षा में गुण अकस्मात् आ जाते थे। यहां केवल आदर्शों का विचार है, व्यावहारिक गुण-दोष का नहीं। यही दावा है कि नई आदर्श प्रणाली जैसी चाहिए वैसी यहां चल रही है। प्रत्युत शिक्षा प्रणाली में यह देश बड़ी असमंजस में पड़ा हुआ है। न पुरानी चाल के अच्छे अंश ही रहे हैं और न नई के गुण अभी चल सके हैं। इस लेख में सिद्धांतों का विचार है।

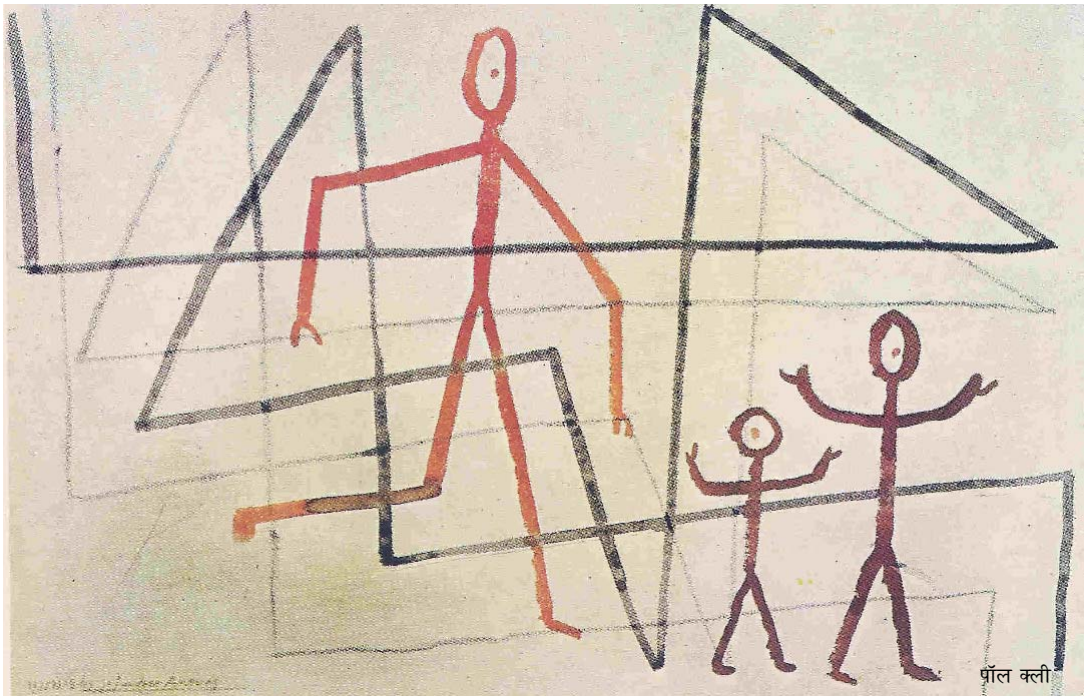
पॉल क्ली

विद्यार्थी पात्र (बरतन) माना जाता था। पर कुछ खोदने वाले का सा परिश्रम करने की उससे आशा की जाती थी। ऊपर की वैदिक भाषा में 'शुश्रूषु' पर ध्यान दीजिए। जिस समाज में गुरु कुछ वेतन नहीं पाते थे, जहां विद्या का बेचना पाप था, वहां सेवा में शिष्यों को जोतना अर्थशास्त्र के अनुसार था। गुरु शिष्य के मन को सुधारने में जो श्रम करता था उसका विनिमय (क्योंकि बदला अवश्य चाहिए, चाहे वह माहवारी तनख्वाह हो, चाहे खेती की रखवाली और चाहे समावर्तन के पीछे गुरु दक्षिणा की आशा) छात्रों की मेहनत से हो जाता था। संस्कृत का इतिहास इस सेवा के कितने ही उल्लेखों से भरा पड़ा है। कहीं गुरु बरसते पानी में शिष्य को अपनी बह जाने वाले खेत की मेंड़ बना देता है, कहीं वह चार सौ दुर्बल गायें सौंपकर उसे कहता है कि उन्हें बिना हजार किए जंगल से मत लौटना, कहीं अपने वीर शिष्यों के द्वारा अपने पराजय का बदला किसी अभिमानी राजा से निकालना चाहता है। और गुरु पत्नियां कहीं अपनी भूषणप्रियता से राजमहिषी के कुंडल मंगवाती हैं, कहीं विद्यार्थियों को गौओं का दूध पीना तो दूर रहा बछड़ों के मुंह पर लगा हुआ झाग पीने से रोकती हैं, कहीं रगड़कर इतनी मजदूरी लेती हैं कि विद्यार्थी पढ़ने को प्रणाम करके हिमालय में तपस्या करने चला जाता है और शिवजी को प्रसन्न करके जगत् भर से कहलाता है कि 'हता: पाणिनिना वयम्'। हमें पापिनी ने मार डाला। और विद्यार्थी पण्डित होकर किस प्रकार उस अपनी कठोर सेवा को प्रेम से याद करते हैं। मुरारि 'गुरुकुल क्लिष्ट' होने का अभिमान करता है और श्रीहर्ष अपनी कविता की गांठें श्रद्धा से गुरुसेवा करने वालों से खुलवाने की आशा करता है। पर इतना पानी भरने और लकड़ियां ढोने पर भी जिसे कुछ आ गया उसे आ गया, गुरु का कुछ दायित्व नहीं। अब सारा परिश्रम गुरु के सिर पर है। यदि विद्यार्थी न समझें तो उसका दोष है, उसे समझाने का ढंग नहीं आता। वह बालक-मनोविज्ञान से अंजान है। उसे प्रत्येक बालक के इतिहास से, उसके वंशगत विचारों से, उसकी रुचियों से, जानकार होना चाहिए, जिससे वह उनका सुधार कर सके।

यह संभव नहीं कि हर किसी को हर कोई पढ़ा ले। तभी तो कहा गया है कि 'मातृमान् पितृमान्, आचार्यवान, पुरुषो वेद'- जिसे माता, पिता और पीछे आचार्य सिखावे, वही सीख सकता है। इसी

से तो कहा गया है कि 'पितैबोधनयेत् पुत्रम्' पिता ही पुत्र को सिखावे। जितनी बालक की प्रवृत्तियों की जानकारी माता को और उसके पीछे पिता को होती है, उतनी बाहर के किसको हो सकती है। परन्तु सभ्यता के कारण काम करने की शक्ति इतनी बिखर जाती है कि प्रत्येक पिता अपने पुत्र को नहीं पढ़ा सकता और श्रम-विभाग का भी एक उदाहरण है कि सिखाने वालों का एक समूह पृथक् बन जाए। पुराने लोग अपने खेत में अन्न उपजा कर अपने लिए आप ही कपड़ा बुनते और लकड़ी काटने के लिए आप ही कुल्हाड़ी बनाकर चौकियां बना लेते हों, पर अब किसान और जुलाहा, लौहार और खाती का न्यारा-न्यारा है। पर पढ़ाने के काम में इतनी छीछालेदार है जितनी किसी में नहीं । रोगी अपनी चिकित्सा अपने आप नहीं कर सकता न वह चाहता है कि मेरे पुत्र की चिकित्सा अनाड़ी डॉक्टर करे। अपना रुपया हम ऐसे कोठी वाले के यहां रखना नहीं चाहते, जो धन विनियोग के सिद्धांतों को न जानता हो। अपना मुकदमा हम स्वंय कचहरी में नहीं ले जाते और न ऐसे वकील को सौंपते हैं जो पैरवी न कर सकता हो। पर अपने बालकों की शिक्षा का भार हम या तो स्वयं उठाने का बहाना करते हैं, या ऐसे लोगों को सौंपते हैं जो डॉक्टर या वकील या और कुछ बनने में अयोग्य सिद्ध होकर लड़के पढ़ाना प्रारंभ करते हैं । जो और पेशों में सफलता नहीं पा सकते हैं उनके लिए मास्टरी का द्वार खुला है, ऑफिसों के क्लर्क अपने कलम रगड़ने से फुरसत के समय को लड़के पढ़ाने में लगाना चाहते हैं। और यह एक साधारण उक्ति है कि 'और कोई रोजगार नहीं हुआ तो चार लड़के ही पढ़ा कर गुजारा करेंगे।' शाहजहां ने भी अपनी कैद के दिनों में अपने सुपुत्र औरंगजेब के समय काटने के लिए पढ़ाने को लड़के मांगे थे।

विश्वविद्यालय के नये उपाधिकारियों को गुरु बनाना, नाई का हाथ जम जाए इसलिए अपना सिर छिलवाना है। यों रटाई होती है, पढ़ाई नहीं। पढ़ाना भी एक कला है जिसे पूरी तरह न जानने वाला निभा नहीं सकता। यों तो सिखाना कविता की तरह ईश्वर की देन है, सौ-सौ ट्रेनिंग स्कूलों में धक्के खाने पर भी वह योग्यता नहीं हो सकती जो 'जन्म के गुरु' को होती है, पर आजकल पढ़ाना भी पढ़ना चाहिए। पढ़ाने की परीक्षा होती है। समझाने का विज्ञान जानना होता है। विकासवाद के तत्त्व टटोलने पड़ते हैं। समाजशास्त्र और प्राणिशास्त्र, ज्ञान तंतुशास्त्र और आचार शास्त्र का मनन करना होता है। यह कोई आवश्यक बात नहीं कि अच्छा विद्वान अच्छा अध्यापक हो कभी-कभी इसके बिल्कुल विपरीत होता है। विद्वान अपने को बालकों की बुद्धि के पलड़े पर नहीं बिठा सकता, वह चौमंजले से खड़ा-खड़ा बालकों के क्षितिज के ऊपर देख सकता है। बालक छोटी-सी झड़बेरी के फल तोड सकते हैं, ऊंचे आम के नहीं।

'मारना' गुरुओं का एक अमोघ शस्त्र है। जो बात समझाने से किसी शिष्य के मन में न बैठे वह मार कर बिठाई जाए। हजरत सुलेमान कह गए हैं कि 'लाठी को बचाओ और बालक को बिगाड़ो।' 'मनुस्मृति' में शिष्य और पुत्र के मारने की मनाई नहीं है और भाष्यकार पंतजलि खंडिकोपाध्याय की चपेटिकाओं को जगह-जगह याद करके एक पुराने श्लोक को उद्धृत करते हैं जिसके अनुसार चोर और क्रुद्ध गुरु के भयदायक पड़ौस से दूर रहने में ही भलाई कही गई है :

दूरादावसथान्मूत्रं दूरात्पादावसेचनम्।

दूराच्च भाव्यं दस्तुभ्यो दूराच्च कुपितोद्गुरौ:॥

एक और स्थान पर उन्होंने गुरु के हाथों को अमृतमय कहा है, परन्तु ताड़न में, गुण और लाड़ लड़ाने में दोष समझने की पुरानी कहावत है:

सामृतै: पाणिर्भिन्ति गुरुवो न विषोक्षितै:।

लालनाश्रयिणो दोषासतड़नाश्रयिणो गुणा: ॥

'जोशी की चोट और विद्या की पोट' वाली कहावत के बल पर गुरु की 'मूरख समझावनी' राजदण्ड से भी बढ़कर चला करती थी। वर्तमान शिक्षा-विज्ञान ने यह प्रतिभा भी तोड़ दी है। आजकल बालक को मारना एक कायरपन है, जिसका सहारा यह जानकर कि बालक लट्ठ के जवाब में लट्ठ नहीं मार सकता, केवल कापुरुष ही लेते हैं आचरण संबंधी अपराधों में शासन के लिए मारने की उपयोगिता मानी गई है पर वह भी भय उपजाने के लिए और दण्ड की बुद्धि से पीड़ा पहुंचाने और बदला लेने की नीयत से नहीं। अधिक मार से बालक निर्लज्ज हो जाते हैं और बुद्धि के दोषों, न समझने और न याद रखने आदि पर शारीरिक दण्ड का प्रयोग अनुचित है। गुरु की आंख का दण्ड, साथियों के सामने हंसे जाने का दण्ड और गुरु के प्रसाद का पुरस्कार अब इस प्राचीन प्रथा को निर्दय और अनावश्यक सिद्ध करते जाते हैं।

यह कहा जा चुका है कि पहले पण्डित बनाने का यत्न किया जाता था, अब मनुष्य बनाने का। पहले भाषा के जानने पर अनावश्यक जोर दिया जाता था, अब विषयों पर ध्यान है। लैटिन या ग्रीक या संस्कृत का कोश और व्याकरण की रटाई के भरोसे पढ़ना विद्या की सीमा थी। कितने वर्ष व्यर्थ इस अलूनी सिला को चाटने में बीतते थे। अब भाषा पढ़ाई जाती है तो वह ज्ञान का लक्ष्य नहीं मानी जाती, ज्ञान का साधन मानी जाती है। भाषा 'भाषा' की तरह कान और मुख को सिखाई जाती है, तोते की तरह स्मृति को नहीं। न अधिकारी और अनधिकारी का भेद था। उदार शिक्षा और विशिष्ट अभ्यास में कोई अन्तर नहीं किया जाता था। संस्कृत भाषा

को भाषा समझकर नहीं पढ़ा जाता था, परन्तु प्रत्येक मनुष्य ही नागोजी भट्ट के लच्छेदार परिष्कारों को उलझकर रात बिता कर फिर सवेरे जहां से चला वहीं लंघाई के भाड़े की कुटिया पर खड़ा मिलता था। तभी तो ज्ञानी पश्चात्ताप करते थे कि काल के आने पर 'डुकृज करणे' नहीं बचाता। जो समय शब्दों में बीतता था, वह भावों में लगाया जाता है। गणित, पदार्थ-विज्ञान, रसायन आदि की शिक्षा मनुष्य में 'क्यों' और 'कैसे' के प्रश्नों को नित्य जगाती जाती है। पहले जो आचार्य ने लिखा है वह बिना समझे ही मानना होता था, पीछे वर्षों के श्रम के बाद चाहे वह समझ में आवे, चाहे न आवे। अब गणित के नियम सूत्र या गुर से नहीं सिखाए जाते, पचास सवाल करके स्वयं गुर या सूत्र निकालने के लिए शिष्य तैयार किया जाता है। स्मृति को अनावश्यक बोझ से लादा नहीं जाता, परन्तु उसे जागती हुई समझ कर जेबी बटुआ बनाया जाता है। इतिहास केवल तारीखों की कड़ी या राजाओं की नामावली नहीं रहा है, वह मनुष्यों के व्यवहारों के अनिष्फल परिणामों का अनुशीलन है। भूगोल केवल नदियों और शहरों की सूची नहीं है वह जल, स्थल और ऋतुओं के परिवर्तन और बस्ती के बदलने के कारणों की खोज है। एक बात में पहले हम छात्रावस्था में मुंह में भरी हुई घास की जन्म भर जुगाली करते थे, अब काम की चीजों को चुन सकने और ले सकने के लिए तैयार कर दिए जाते हैं। अपनी खोज से पाया हुआ आलू दूसरे के दिए जमीकंद से अच्छा है - इस सिद्धांत के लिए छात्र तैयार किए जाते हैं। गुरु का काम साधारण और उदार शिक्षा से मन का मैल धो देना है, पीछे खोजी अपने आप जैसा रंग चाहे वैसा चढ़ा ले।

पहले जल्दी बहुत की जाती थी। आठ वर्ष की नियत अवस्था तक जिसे ब्रह्मचर्य पा सकने की प्रतीक्षा न थी उसका उपनयन पांच वर्ष की ही उमर में किया जा सकता था। पतंजलि ने आह भरकर कहा है कि 'वेदमधीत्यव्वरिता: प्रवक्तारों भवंति' और मध्य समय के योरप के विश्वविद्यालयों में जितनी छोटी उम्र के डाक्टर की पदवी पाई जाती थी उतनी ही प्रतिष्ठा होती थी। यहां भी यह घमंड माना जाता है कि 'अमुक ने बारह वर्ष की अवस्था में मैट्रीकुलेशन कर लिया था।' इसका फल वही होता था, जो बालविवाह का होता है। उधर दादा जी को गोदी में नाती खिलाने का सौभाग्य मिलता है, इधर दूध के दांत टूटते न टूटते त्रिकोण मिति होने लगती है। जब सीखने की प्रकृत अवस्था आती है तब कमर झुक और आंख धंस चुकती है। प्रकृति का पृष्ठ खुलने के बदले बन्द हो जाता है। वर्तमान शिक्षाशास्त्र समय को यों सरपट दौड़ने की अनुमति नहीं देता। वह कहता है कि जब तक देह का पूरा विकास न हो ले, तब तक मन को लादने का उद्योग न करो, नहीं तो मिठाई के मार से छींके के टूटने का शोकमय नाटक अभिनीत होगा।

एक पाठशाला का वार्षिकोत्सव था। मैं भी वहां बुलाया गया था। वहां के प्रधान अध्यापक का एक मात्र पुत्र जिसकी अवस्था 8 वर्ष की थी, बड़े लाड़ से नुमाइश में मिस्टर हादी के कोल्हू की तरह दिखाया जा रहा था। उसका मुंह पीला था, आंखें सफेद थीं, दृष्टि भूमि से उठती नहीं थी। प्रश्न पूछे जा रहे थे। उनका वह उत्तर दे रहा था। धर्म के दस लक्षण वह सुना गया, नौ रसों के उदाहरण दे गया। पानी के चार डिग्री के नीचे शीतता में फैल जाने के कारण और उससे मछलियों की प्राणरक्षा को समझा गया, चंद्रग्रहण का वैज्ञानिक समाधान दे गया, अभाव को पदार्थ मानने न मानने का शास्त्रार्थ कह गया और इंग्लैंड के राजा आठवें हेनरी की स्त्रियों के नाम और पेशवाओं का कुर्सीनामा सुना गया। यह पूछा गया कि तू क्या करेगा। बालक ने सीखा-सिखाया उत्तर दिया कि मैं यावज्जन्म लोक सेवा करूंगा। सभा 'वाह-वाह' करती सुन रही थी, पिता का हृदय उल्लास से भर रहा था। एक वृद्ध महाशय ने उसके सिर पर हाथ फेरकर आशीर्वाद दिया और कहा कि जो तू इनाम मांगे वही दें। बालक कुछ सोचने लगा। पिता और अध्यापक इस चिन्ता में लगे कि देखें यह पढ़ाई का पुतला कौन-सी पुस्तक मांगता है। बालक के मुख पर विलक्षण रंगों का परिवर्तन हो रहा था, हृदय में कृत्रिम और स्वाभाविक भावों की लड़ाई की झलक आंखों में दीख रही थी। कुछ खांसकर, गला साफ कर नकली परदे के हट जाने पर स्वयं बालक ने धीरे से कहा, 'लड्डू'। पिता और अध्यापक निराश हो गए। इतने समय तक मेरा श्वांस घुट रहा था। अब मैंने सुख से सांस भरी। उन सबने बालक की प्रवृत्तियों का गला घोटने में कुछ उठा नहीं रखा था। पर बालक बच गया। उसके बचने की आशा है क्योंकि वह 'लड्डू' की पुकार जीवित वृक्ष के हरे पत्तों का मधुर मर्मर था, मरे काठ की अलमारी की सिर दुखाने वाली खड़खड़ाहट नहीं। ◆

(18 नवम्बर, 1914)

यह रचना चन्द्रधर शर्मा 'गुलेरी' के प्रतिनिधि संकलन, नेशनल बुक ट्रस्ट, इण्डिया, 1997 के प्रकाशन से साभार।

प्रधान संपादक - नामवर सिंह

संपादक - विश्वनाथ त्रिपाठी